अध्याय – 4
योग दर्शन एवं वेदान्त दर्शन

(1) योग दर्शन–

महर्षि पतंजलि को योग दर्शन का प्रमुख आचार्य माना जाता है। योग भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्पर की अमूल्य साधना पद्धति है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त सभी भारतीय दार्शनिकों ने आत्मसाक्षात्कार एवं तत्वसाक्षात्कार में योग साधना की महत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि भारतीय चिन्तन परम्परा में योग साधना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। उपनिषद्, महाभारत, भगवद्गीता, जैन और बौद्ध दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं में योग सम्बन्धी साधना पद्धति का विवेचन किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार हिरण्यगर्भ योग के आदि वक्ता हैं। अतः योग के आचार्यों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। योग के इन आचार्यों में महर्षि पतंजलि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि पंतजलि ने ही सर्वप्रथम सुसम्बद्ध दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में योग का विवेचन किया। महर्षि पतंजलि का योगसूत्र योग दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम योग दर्शन का व्यवस्थित ढंग से दार्शनिक रूप में प्रतिपादन किया। योगसूत्र चार पादों (अध्यायों) में विभक्त है– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। महर्षि पतंजलि के योग दर्शन को राजयोग भी कहते हैं।

योग की परिभाषा– योग दर्शन में योग शब्द युज् समाधौ अर्थात् समाधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में योग की परिभाषा इस प्रकार दी है–''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। यहाँ चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और अंहकार से है। यद्यपि चित्त त्रिगुणात्मक है, तथापि उसमें सत्वगुण की प्रधानता है। यह तात्विक रूप से जड या अचेतन है, किन्तु सत्व गुण की प्रधानता के कारण यह स्वच्छ दर्पण के समान पुरुष (आत्मा) के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, जिससे उसमें चैतन्य का आभाष होता है। इस प्रकार अचेतन चित्त चैतन्य स्वरूप पुरुष (आत्मा) से प्रकाशित होकर चेतनवत प्रतीत होने लगता है। चित्तवृत्ति का अर्थ है–चित्त द्वारा विषयाकार ग्रहण करना। जब इन्द्रियों, का विषयों से सन्निकर्ष होने पर चित्त विषयों के सम्पर्क में आता है, तब विषयाकार हो जाता है। चित्त द्वारा विषयों के आकार को ग्रहण करना ही चित्तवृत्ति कहलाती है। पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है और जीवात्मा को विषयों का ज्ञान होता है। इन चित्तवृत्तियों का प्रवाह निरन्तर चित्त में चलता रहता है। ये चित्तवृतियाँ क्षीण होकर चित्त में अपने संस्कारों को स्थापित करती हैं और ये संस्कार परिपक्व होकर अन्य वृत्तियों का रूप धारण करते है। इस प्रकार चित में वृत्तियों से संस्कारों और सस्कारो से वृत्तियों की उत्पति का क्रम निरन्तर चलता रहता है। विषयाकार चित्त का पुरुष में प्रतिबिम्बित होने के कारण पुरुष चित्त के व्यापारों को अपना समझने लगता है। चित्त की सुख–दुःखात्मक वृत्तियों के अनुसार स्वयं को सुखी और दुःखी मानने लगता है। पुरुष एवं चित्त का यह अनादि कालीन सम्बन्ध ही जीव के बन्धन का कारण है। जब पुरुष विवेक ज्ञान के द्वारा चित्त एवं उसकी वृत्तियों से अपना भेद करके अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रकाशित होने लगता है। इस अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध की इस अवस्था को ही योग कहते हैं।

अष्टांग योगमार्ग– महर्षि पतंजलि द्वारा चित्त की वृत्तियों के निरोध हेतु प्रतिपादित साधना पद्धति के आठ सोपान हैं। इसलिये इस साधना पद्धति को अष्टांग योगमार्ग कहते हैं। इस योगमार्ग के आठ अंग इस प्रकार हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसमें से प्रथम यम और नियम नैतिक मूल्यों की साधना पर बल देते हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का उद्देश्य चित्त को बाह्य विषयों से हटाना है। धारणा, ध्यान और समाधि चित्त की एकाग्रता के विभिन्न रूप हैं। इनके द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाता है। योग के इन आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं, जबकि धारणा, ध्यान और समाधि योग के अन्तरंग साधन हैं। योग के आठ अंगों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

यम– शरीर, मन और वाणी का संयम यम कहलाता है। आत्मिक उत्थान के साथ साथ समस्त प्राणियों के कल्याण में इनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महर्षि पतंजलि के अनुसार यम पांच है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये नैतिकता के सार्वभौम धर्म हैं।

1.अहिंसा– किसी भी प्राणी का किसी भी काल में किसी प्रकार से द्रोह न करना अर्थात् मन, वचन और कर्म के द्वारा किसी भी प्राणी को कोई कष्ट नहीं पहुँचाना ही अहिंसा कहलाता है। प्राणी मात्र के प्रति करूणामय व्यवहार अहिंसा का भावात्मक पक्ष है। जिस मनुष्य का अहिसा नामक प्रथम यम सिद्ध हो जाता

है, उसके समीप निवास करने वाले हिंसक जीव भी अपने हिंसक स्वभाव का परित्याग कर देते हैं।

2.सत्य– सत्य सदाचार का मूल है। प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया गया है, उसे मन, वचन और कर्म के द्वारा वैसा ही अभिव्यक्त करना सत्य कहलाता है। श्रोता को उद्वेग न उत्पन्न करने वाले, प्रिय लगने वाले, परिणाम में हितकारी, निष्कपट तथा स्पष्ट वचन सत्य वचन की विशेषता है।

3.अस्तेय– निषिद्ध प्रकार से दूसरों का द्रव्य न ग्रहण करना तथा जिसका कुछ भी मूल्य हो ऐसी कोई वस्तु उसके स्वामी की अनुमति के बिना न ग्रहण करना ही अस्तेय कहलाता है। अतः मन, वचन और कर्म के द्वारा किसी द्रव्य को न चुराना, न ग्रहण करना और न ही छीनना अस्तेय है।

4. ब्रह्मचर्य– उपस्थेन्द्रिय का यथार्थ संयम करना ही ब्रह्मचर्य है। मन, वचन और कर्म के द्वारा विषय वासनाओं का पूर्णतया त्याग करते हुए उपस्थेन्द्रिय का संयम ही ब्रह्मचर्य कहलाता है।

5.अपरिग्रह– भौतिक वस्तुओं के संग्रह की प्रवृति का त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह के लिए मन, वचन और कर्म से भोग्य पदार्थों के संग्रह की प्रवृति का त्याग करना आवश्यक है।

नियम– सदाचरण और सद्व्यवहार के माध्यम से मनुष्य को सत्त आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर करना ही नियम का मुख्य उद्देश्य है। महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम पाँच हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। नियम का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

1.शौच– शौच का नियम में प्रथम स्थान है। शौच का अर्थ मानवीय जीवन में सूचिता या पवित्रता से है। बाह्य एवं आभ्यांतर दृष्टिकोण से शौच के दो भेद हैं। बाह्य शौच के अन्तर्गत शारीरिक शुद्धि आती है। स्नान, स्वच्छता एवं पवित्र भोजन बाह्य शौच के प्रमुख साधन हैं। आभ्यांतर शौच का अर्थ मानसिक पवित्रता से है। मैत्री, करूणा, मुदिता (प्रसन्नता) और उपेक्षा आभ्यांतर शौच के प्रमुख साधन है।

2.सन्तोष– पंच नियमों के अन्तर्गत सन्तोष का द्वितीय स्थान है। उचित प्रयास से जो कुछ भी प्राप्त हो उसी से सतुष्ट रहना सन्तोष कहलाता है। शरीर यात्रा के लिए जो नितान्त आवश्यक हैं, उसके अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओं की इच्छा न करना ही सन्तोष है।

3. तप– सुख–दुःख, लाभ–हानि, मान–अपमान, जय–पराजय, सर्दी–गर्मी, आदि द्वन्द्वों को सहन करना ही तप कहलाता हैं। संयमित जीवन व्यतीत करते हुए अनुष्ठान, मंत्रजाप एवं उपासना द्वारा अशुद्धि का नाश करना भी तप के अन्तर्गत आता है।

4.स्वाध्याय– स्वाध्याय का अर्थ है– शास्त्रों का अध्ययन करना तथा ज्ञानी पुरुषों के वचनों का अनुशीलन करना। महर्षि व्यास के मतानुसार ओंकार का जाप करना तथा मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाले सद्ग्रन्थों का श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत आदि सद्ग्रन्थों के अध्ययन से हमारे विचारों एवं संस्कारों में पवित्रता, दिव्यता एवं दृढता आती है।

5.ईश्वरप्रणिधान– गुरुओं के भी परमगुरु परमात्मा को अपने समस्त कर्तव्य कर्मो को समर्पित करते हुए उसके प्रति अटूट श्रद्धा, अस्था और विश्वास ईश्वरप्राणिधान कहलाता है। योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम ओंकार है। ओंकार का श्रद्धापूर्वक निरन्तर चिन्तन मनन और ध्यान ईश्वरप्रणिधान के अंग हैं। ईश्वरप्रणिधान के द्वारा समाधि में सिद्धि प्राप्त होती है।

आसन– यम और नियम के पश्चात आसन अष्टांग योग का महत्वपूर्ण अंग है। यह शरीर का संयम है। चित्त की एकाग्रता के लिए शरीर का अनुशासन भी उतना ही आवश्यक है, जितना मन का। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में आसन को इस प्रकार परिभाषित किया 'स्थिरसुखमासनम्' अर्थात् स्थिरभाव से सुखपूर्वक बैठने को 'आसन' कहते हैं। आसन जब निश्चल, कम्पन रहित तथा कष्टरहित होता है, तब यह योगासिद्धि में सहायक होता है। यद्यपि आसन के अनेक प्रकार हैं, किन्तु आत्मसंयम का अभ्यास करने वाले साधकों के लिए सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन को सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है।

प्राणायाम– प्राणायाम अष्टांग योग का चतुर्थ महत्वपूर्ण अंग है। आसन के सिद्ध होने के पश्चात श्वास–प्रश्वास की गति को नियमित करना प्राणायाम कहलाता है। बाह्य प्राणवायु का शरीर के भीतर नासिका रन्ध्र से प्रवेश श्वास तथा अन्तः प्राणवायु का नासिका रन्ध्र से बाहर आना ही प्रवास है। प्राणायाम के अभ्यास द्वारा श्वास–प्रश्वास की इस गति को नियमित किया जाता है। यह प्राणायाम तीन प्रकार की क्रियाओं में विभक्त है– पूरक, रेचक और कुम्भक। नासिका द्वारा प्राणवायु को शरीर के भीतर खीचना पूरक, बाहर निकालना रेचक तथा बाहर एवं भीतर कुछ समय रोकना कुम्भक कहलाता है।

प्रत्याहार– इन्द्रियों का बाह्य विषयों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के माध्यम से इन्द्रियों को संयमित किया जाता है। इन्द्रियाँ स्वभाव से ही बहिर्मुखी होती हैं। उनकी बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाना ही प्रत्याहार है।

धारणा– किसी स्थान विशेष पर चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते हैं। चित्त की एकाग्रता के ये स्थान बाह्य और

अन्तरिक दोनों हो सकते हैं। धारणा के बाह्य विषय या स्थान ईष्ट देवता की प्रतिमा या अपने आराध्य ईष्ट का कोई प्रतिक हो सकता है। धारणा के आन्तरिक स्थान हृदय, कमल, नाभिचक्र, नासिका का अग्रभाग, जिह्वा का अग्रभाग, कण्ठ आदि हो सकते हैं। इस प्रकार चित्त को बाह्य या आन्तरिक स्थान पर एकाग्र करने का प्रयत्न ही धारणा कहलाता है।

ध्यान– उस देश विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप में प्रवाहित होने लगता है तो उसे ध्यान कहते है। ध्यान का अर्थ है–ध्येय वस्तु का निरन्तर चिन्तन मनन। इस अवस्था में एक समय में एक ही ज्ञान का प्रवाह होता है और वह अन्य प्रकार के ज्ञान से मिश्रित नहीं होता।

समाधि– शाब्दिक व्युत्पति की दृष्टि से समाधि का अर्थ है– विक्षेपों को दूर कर चित्त को सम्यक प्रकार से एकाग्र करना। जिस अवस्था में ध्यान ध्येय वस्तु के आवेश से मानों अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है, वह समाधि की अवस्था हैं। ध्यान की अवस्था में ध्यान, ध्येय वस्तु और ध्याता अलग–अलग प्रतीत होते हैं। किन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। समाधि के दो प्रकार हैः– 1. सम्प्रज्ञात समाधि 2. असम्प्रज्ञात समाधि।

1.सम्प्रज्ञात समाधि– सम्प्रज्ञात समाधि मे केवल ध्येय विषय का ज्ञान होता है। इसमें ध्येय विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों का अभाव होता है। इसमें चित्त ध्येय विषय में लीन होकर ध्येय विषयाकार हो जाता है। इसमें चित्त की एकाग्रता के आलम्बन के रूप में कोई न कोई विषय उपस्थित रहता है, अतः इसे सबीज समाधि कहते हैं। सम्यक रूप से प्रज्ञा का उदय होने के कारण इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाएँ है– सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित।

2.असम्प्रज्ञात समाधि– यह समाधि की वह अवस्था है, जिसमें कोई भी चित्तवृत्ति उपस्थित नहीं रहती। इसमें चित्त की एकाग्रता के आलम्बन के रूप में स्थूल एवं सूक्ष्म सभी विषयों का अभाव रहता है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें चित्त में आलम्बन रूप विषय का अभाव होता है निर्बीज समाधि चित्त के पूर्ण निरोध की अवस्था है। इसमें समस्त चित्त वृत्तियों और उनके सस्कारों का पूर्णतः निरोध हो जाता है। इस अवस्था में पुरूष अपने शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है।

(2) वेदान्त दर्शन–

वेदान्त दर्शन भारतीय दार्शनिक चिन्तन परम्परा की पराकाष्ठा माना जाता है। वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है– वेद का अन्त अथवा वैदिक विचारधारा की पराकाष्ठा। वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिए भी किया जाता है। क्योंकि उपनिषद वैदिक वांग्मय का अन्तिम भाग हैं। वेदान्त दर्शन का सम्बन्ध उन विचारधाराओं से है, जिनका विकास उपनिषदों से हुआ है। अतः वेदान्त वह दार्शनिक विचारधारा है, जिसके लिए उपनिषद प्रमाण है। वेदान्त दर्शन को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें श्रुति की ज्ञानमूलक व्याख्या है। उपनिषदों के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का दूसरा महत्वपूर्ण आधार महर्षि बादरायण का ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्र को वेदान्त सूत्र एवं शारीरिक सूत्र भी कहते हैं। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का तीसरा महत्वपूर्ण आधार श्रीमद्भगवद्गीता है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन का आधार तीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं– उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवद्गीता। इन्हे वेदान्त दर्शन की प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। वेदान्त के आचार्यो ने इन तीनों पर या किन्हीं दो पर भाष्य लिखकर अपने मत का समर्थन किया है। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और बल्लभाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। आदिगुरू शंकराचार्य का मत अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का मत विशिष्टाद्वैवाद, मध्वाचार्य का मत द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का मत द्वैताद्वैवाद और बल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैवाद कहलाता है।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद– आदिगुरु शंकराचार्य निर्विवाद रूप से वेदान्त दर्शन के सर्वाधिक महान आचार्य हैं। प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों में शंकराचार्य का नाम अग्रणीय है। सम्भवतः प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने की परम्परा शंकराचार्य के अनुकरण का ही परिणाम है। उन्होने प्रस्थानत्रयी की बौद्धिक और दार्शनिक व्याख्या की। शंकराचार्य का जन्म केरल राज्य के मालाबार में एक नम्बूद्रीपाद ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम विशिष्टा था। उन्होनें गोविन्दपादाचार्य से वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की शिक्षा ग्रहण की थी। उनके विषय में कहा जाता है कि उन्होने केवल आठ वर्ष की अवस्था में चार वेदों को कण्ठस्थ कर लिया था। बारह वर्ष की अवस्था मे सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रस्थानत्रयी पर भाष्य को पूर्ण किया। उन्होंने एक आचार्य के रूप में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। उन्होंने बौद्ध और मीमांसकों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अधिकांश को अद्वैत दर्शन में दीक्षित किया। उन्होने अद्वैत वेदान्त के प्रचार–प्रसार के लिए चार मठों की स्थापना की। ये मठ इस प्रकार हैं– दक्षिण भारत में श्रृंगेरी मठ, उत्तर भारत में द्वारिकाश्रम मठ, पूर्वी भारत में गोवर्धन मठ तथा पश्चिम भारत में शारदा मठ। आज भी ये चारों मठ आध्यात्मिक विधा के महान केन्द्र हैं। उन्होंने भारतीय अध्यात्म, संस्कृति एवं दर्शन में युगान्तकारी परिवर्तन किये।

आदिगुरू शंकाराचार्य ने अपनी तीक्ष्ण एवं तार्किक प्रतिभा द्वारा वेदान्त का सार ग्रहण कर उस अद्भुत अद्वैत वेदान्त के

तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया जो उपनिषदों में निहित है। इन्होंने अपने बत्तीस वर्षीय अल्पकालिन जीवन काल में राष्ट्र के धार्मिक विघटन का निवारण करते हुए अद्वैतवाद के माध्यम से एकता और समन्वय की स्थापना की। उन्होंने ब्रह्म विशयक परस्पर विरोधी व्याख्याओं में समन्वय स्थापित कर यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्म ही एकमात्र परमतत्व है। अपने अद्वैतत्व वाद की व्याख्या करते हुए इन्होंने स्पष्ट किया कि –''करोडों ग्रन्थों में जिस बात का उल्लेख किया गया है। उसकी व्याख्या मैं आधे श्लोक में कर रहा हूँ– ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, वह ब्रह्म से पृथक नहीं है।'' ब्रह्म को ही एकमात्र परमतत्व और सत् मानने के कारण आदिगुरू शंकराचार्य का मत अद्वैतवाद कहलाता है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से एकमात्र ब्रह्म सत् है। ईश्वर, जीव, जगत, माया आदि व्यवहारिक सत् है। प्रंपचात्मक जगत माया की प्रतीति मात्र है।

ब्रह्म की अवधारणा– आदिगुरू शंकराचार्य के दर्शन अद्वैतवाद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। अद्वैत वेदान्त की तत्वमीमांसा में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, जगत मिथ्या है और जीव भी परमार्थतः ब्रह्म है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म के दो लक्षण हैं– तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण।

तटस्थ लक्षण– तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिणामी धर्मों का वर्णन करता है। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है। ब्रह्म इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। ब्रह्मसूत्र के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इस जगत का जन्मादि अर्थात् जन्म, धारण और विनाश जिस तत्व से होता है, वह ब्रह्म है। ब्रह्म इस जगत का एकमात्र कारण है। इस अर्थ में ब्रह्म माया से युक्त है और वह ईश्वर कहलाता है। जगत कारणत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

स्वरूप लक्षण– स्वरूप लक्षण किसी वस्तु के तात्विक अर्थात् वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करता है। स्वरूप लक्षण की दृष्टि से शंकराचार्य ब्रह्म को सचिदानन्द कहते हैं। इसी को श्रुति में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा जाता है, अर्थात् ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। ब्रह्म सत् चित और आनन्द स्वरूप है। सत् चित् एवं आनन्द ब्रह्म के गुण न होकर उसका वास्तविक स्वरूप है। ये तीन नहीं अपितु तात्विक रूप से एक हैं। जो सत् है, वही चित है, वही आनन्द है। शंकराचार्य ब्रह्म के तटस्थ एवं स्वरूप लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त देते हैं। एक गडेरिया रंगमंच पर राजा का अभिनय करता है। वास्तविक दृष्टि से वह गडेरिया है, यह उसका स्वरूप लक्षण है, किन्तु रंगमंच दृष्टि से वह राजा दिखता है, यह उसका तटस्थ लक्षण है।

निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म– अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं–निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म। शंकराचार्य के मतानुसार पारमार्थिक सत के दृष्टिकोण से ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष है। ब्रह्म को निर्गुण कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि वह गुणों से शून्य है। इसका अभिप्राय केवल यह है कि बुद्धि द्वारा कल्पित कोई गुण ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता है। माया से युक्त ब्रह्म सगुण ब्रह्म कहलाता है। इसे ईश्वर भी कहते हैं। इस दृष्टिकोण से ब्रह्म जगत का सृष्टा, पालक और संहारक है। सगुण ब्रह्म की अवधारणा व्यवहारिक दृष्टि से सत है। ब्रह्म सभी भेदों से रहित है– शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म सभी भेदों से रहित है। वेदान्त दर्शन में तीन भेद स्वीकृत हैं– सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद। एक ही जाति के सदस्यों में जो भेद पाया जाता है, उसे सजातिय भेद कहते है। जैसे एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से भेद। दो असमान वस्तुओं में पाये जाने वाले भेद को विजातीय भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य और पशु में भेद। एक वस्तु के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले भेद को स्वगत भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य के विभिन्न अंगो हाथ, पैर आदि में भेद। ब्रह्म में इन तीनों भेदों का सर्वथा अभाव है।

ब्रह्म अनिर्वचनीय है– शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वह निर्गुण, निराकार और निर्विशेष होने के कारण अलक्षण है। परिणामतः उसका वर्णन वाणी के द्वारा नहीं किया जा सकता। उल्लेखनीय है कि ब्रह्म को अनिवर्चनीय कहने का वह अर्थ नहीं कि वह अज्ञेय है। निःसंदेह अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म तर्कमूलक विचार से परे हैं, किन्तु वह अज्ञेय नहीं है। यह सत्य है कि हम ज्ञान का विषय बनाकर ब्रह्म को नहीं जान सकते किन्तु अपरोक्षानुभूति के द्वारा उसे जाना जा सकता है। शब्दों के द्वारा ब्रह्म की व्याख्या नहीं की जा सकती, इसलिए उसकी व्याख्या नेति–नेति के द्वारा की गई है।

माया की अवधारणा– अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष सत्ता है। ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है। किन्तु सामान्य मनुष्य कुछ अन्यथा ही अनुभव करता है। उसके अनुभव में जगत का प्रपंच एवं जीवों की विविधता दृष्टिगत होती है। उसे जीव–जगत के प्रपंच की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जीव–जगत के प्रपंच की वास्तविकता क्या है? क्या यह नितान्त असत् है? ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जीव–जगत के प्रपंच का सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकता है? अद्वैत वेदान्त इस जिज्ञासा के समाधान के लिए माया की अवधारणा प्रस्तावित करता है। अद्वैत–वेदान्त के अनुसार माया या अविद्या के कारण निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जीव एवं जगत की विविधता का अनुभव होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया के स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है –

- माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है, जिससे वह

नानारूपात्मक प्रपंचात्मक जगत को उत्पन्न करता है। किन्तु माया ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, अपितु उपाधिमात्र है। जिसे ब्रह्म जब चाहे तब त्याग सकता है।

- माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है। माया ब्रह्म में निवास करती है और जगत के आविर्भाव के लिए ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है। ब्रह्म माया का आश्रय और विषय होने पर भी उससे वैसे ही नहीं प्रभावित होता जैसे जादूगर अपनी जादुई शक्ति से प्रभावित नहीं होता।
- माया अनादि है, किन्तु अनन्त नहीं। माया का अस्तित्व कब से है? यह ज्ञात नहीं है। अनादि होने पर भी माया अनन्त नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती है। यदि माया अनन्त होती तो उसका बाधित होना सम्भव नहीं होता।
- माया की दो शक्तियाँ हैं–आवरण और विक्षेप। आवरण का अर्थ है– ढकना या छिपना और विक्षेप का अर्थ है–उस पर दूसरी वस्तु को आरोपित करना। माया आवरण शक्ति से ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आवरित कर देती है। जबकि विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत को आरोपित कर देती है।
- माया भावरूप है। इसे भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि यह मात्र अभावात्मक नहीं है। क्योकि यह जगत का कारण है, अतः इसका भावात्मक होना सिद्ध है। यदि यह केवल अभावस्वरूप होती तो इससे जगत का उद्भव असम्भव होता। इस जगत रूपी भ्रम को उत्पन्न करने के कारण यह अभावरूप से कुछ अधिक है। पुनः यह भावरूप होने पर भी अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है।
- माया सत्–असत् विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। माया सत् नहीं क्योंकि यह कालान्तर में यथार्थ ज्ञान से बाधित होती है। यह इसलिए भी सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से स्वतंत्र इसकी कोई सत्ता नहीं है। यह अपनी सत्ता के लिए पूर्णतः ब्रह्म पर आश्रित है। यह असत् भी नहीं है, क्योंकि यह अनुभव का विषय बनती है। यह इसलिए भी असत नहीं है, क्योंकि यह ब्रह्म पर जगत को आरोपित करती है। इसे सत्–असत् रूप स्वीकार करने में आत्म विरोध है। अतः तार्किक दृष्टि से इसे सत्–असत् विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा जाता है।
- माया ज्ञान निरस्या है। अधिष्ठान ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान से माया का निराकरण हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी उसके वास्तविक स्वरूप रस्सी में जान लेने से रस्सी के सर्प का ज्ञान बाधित हो जाता हैं, वैसे ब्रह्म ज्ञान होने से प्रपंचात्मक जगत का ज्ञान बाधित हो जाता है।
- माया अध्यासरूप है। अतत् मे तत् प्रतीति अध्यासरूप है। अर्थात जहाँ जो वस्तु नहीं है, वहाँ उसका अनुभव करना अध्यास कहलाता है। माया अध्यासरूप है। यह किसी वस्तु का उस स्थान में आरोप करती है, जहाँ वह नही है। जिस प्रकार रस्सी मे सर्प की प्रतीति में रस्सी में सर्प अध्यस्त होता है, उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म में जगत अध्यस्त होता है।
- माया विर्वतमात्र है और इसकी व्यावहारिक सत्ता है। विर्वतवाद के अनुसार कार्य कारण का आभासमात्र है, यथार्थ रूपान्तरण नहीं। इसके अनुसार कोई वस्तु अन्य वस्तु की प्रतीतिमात्र है। इसमें कोई वस्तु अन्य रूप में रूपान्तरित नहीं होती, अपितु अन्य वस्तु जैसी दिखाई देती है। माया के कारण ब्रह्म का जगत के रूप में आभास होता हैं, उसका वास्तविक रूपान्तरण नहीं। माया के कारण हमारा व्यवहारिक जीवन संचालित होता है। अतः इसकी व्यवहारिक सत्ता है।

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त ने माया की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शंकराचार्य के मतानुसार माया या अविद्या ही वह कारण है, जो ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर जगत प्रंपच और जीवों की विविधता को उत्पन्न करती है। जैसे जगत की प्रतीति माया के कारण हें, वैसे ही जीव का वैशिष्टय तथा जीव की ब्रह्म से पृथक अपने व्यक्तित्व की अनुभूति माया या अविद्या के कारण है। माया ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित होती हैं, अतः ब्रह्मज्ञान के द्वारा माया का निराकरण हो जाता है।

(3) स्वामी विवेकानन्द–

उन्नसवी, शताब्दी के उतरार्द्ध में भारत की पावन भूमि पर आध्यात्मिक चेतना की एक प्रचण्ड लहर तीव्र वेग से प्रवाहित हुई। इस आध्यात्मिक चेतना की लहर ने न केवल भारत को अपितु सुदूर यूरोप और अमेरिका के अधिकांश भू–भाग को भी प्रभावित किया। इस आध्यात्मिक चेतना के प्रमुख उद्गम स्रोत थे श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के परम शिष्य स्वामी विवेकानन्द। स्वामीजी ने युगों से सुप्त भारत की राष्ट्रीय चेतना को एक बार पुनः जाग्रत किया। अमेरिका के शिकागो नगर में सन् 1893 में आयेजित विश्वधर्म महासभा में स्वामीजी ने भारतीय आध्यात्मिक चेतना का शाश्वत शंखनाद किया। उनके आध्यात्मिक एवं प्रेरणादायी विचारों से भारतीय संस्कृति का उदात्त एवं उज्जवल स्वरूप एक बार पुनः जीवन्त हो उठा। स्वामीजी ने तत्कालीन भारतीय जनमानस में व्याप्त निराशा, हीनता और दीनता को दूर करने के लिए गौरवशाली एवं गरिमामयी आध्यात्मिक चेतना का संचार किया।

प्रत्येक राष्ट्र की एक सांस्कृतिक विशिष्टता होती है। इस सांस्कृतिक विशिष्टता के माध्यम से राष्ट्र अपने खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त करता है। स्वामीजी के मतानुसार धर्म भारतीय संस्कृति का आधारभूत तत्व है। भारतीय चिन्तन परम्परा में धर्म

एक व्यापक अवधारणा है जिसमें कर्तव्यपरायणता, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक साधना का समावेश है। धर्म को स्वामीजी ने इस प्रकार से परिभाषित किया है ''मनुष्य में जो दिव्यता विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति धर्म है।'' उन्होने अनुभव किया कि जिस धर्म परायणता या आध्यात्मिक भाव सम्पदा के कारण भारत विश्व गुरु के पद पर सुशोभित रहा उसी आध्यात्मिक भाव सम्पदा को एक बार पुनः जाग्रत करने की आवश्यकता है। उनकी दृष्टि मे भारत माता के गौरव को पुनः जाग्रत करने के लिए ऋषियों–मुनियों की अमूल्य निधि आध्यात्मिकता की साक्षात अनुभूति एवं इसका प्रचार–प्रसार ही एकमात्र उपाय है।

स्वामी विवेकानन्द भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श संन्यास धर्म के जीवन्त प्रतीत थे। उन्होने एक सन्यासी संघ का गठन किया। इसे आज सम्पूर्ण विश्व में रामकृष्ण मिशन के नाम से जाना जाता है। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है ''आत्मनो मोक्षार्थ जगत् हिताय च '' अर्थात् स्वयं की मुक्ति एवं जगत का कल्याण। उन्होने परम्परा के अनुसार मोक्ष प्राप्ति को ही मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया, किन्तु मोक्ष प्राप्ति का उपाय स्वामीजी की दृष्टि में भिन्न था। परम्परागत मोक्ष प्राप्ति का उपाय संसार को त्यागकर वन मे तपस्या करने का है। स्वामी जी ने दरिद्रनारायण, आर्तनारायण, रोगी नारायण, पीडितनारायण की सेवा में ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय ढुंढ निकाला। स्वामीजी के कथनानुसार ''यदि एक मात्र परमात्मा और ईश्वर स्वरूप इस दरिद्र, पीडित, निर्धन मनुष्य की आराधना के लिए मुझे बार–बार जन्म लेकर हजारों बार यातनाएँ भोगनी पडे तो निश्चय ही मैं भोगूंगा।'' उनके दृष्टिकोण में त्याग और सेवा ही भारत के दो सनातन आदर्श रहें हैं। यदि हम भारतीय जीवन में इन दो आदर्शों को अपना सकें, तो हमारी अन्य समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएंगी। धर्म को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर स्वामीजी ने उसे मानव धर्म के रूप में परिवर्तित किया। उनके दृष्टिकोण में निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना ही समस्त उपासनाओं का सार है। सिस्टर निवेदिता के अनुसार–''स्वामी विवेकानन्द की यही अनुभूति है, जिसने उन्हे उस कर्म का महान् उपदेष्टा सिद्ध किया जो ज्ञान भक्ति से अलग नहीं है, वरन् उन्हें अभिव्यक्त करने वाला है। उनके लिए कारखाना, अध्ययन कक्ष, खेत–खलिहान और क्रीडा भूमि आदि भगवान के साक्षात्कार के वैसे ही उत्तम और योग्य स्थान हैं जैसे साधु की कुटी या मन्दिर का द्वार। उनके लिए मानव सेवा और ईश्वर की पूजा, पौरूष तथा श्रद्धा, सच्चा नैतिक बल और आध्यत्मिकता में कोई अन्तर नहीं हैं। एक दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण वाणी को इसी केन्द्रिय दृढ आस्था के भाष्य के रूप में पढा जा सकता है। एक बार उन्होने कहा था कला, विज्ञान एवं धर्म एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के त्रिविध माध्यम हैं। लेकिन इसे समझने के लिए निश्चय ही हमें अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त चाहिए।''

व्यावहारिक वेदान्त की अवधारणा– वेद हिन्दू चिन्तन परम्परा के पवित्रत्म एवं प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ हैं। इन वेदों के अन्तिम भाग जो आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं, उन्हें उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है–जानना। अतः शाब्दिक व्युत्पति की दृष्टि से वेद का अर्थ हुआ–ज्ञान। वेदान्त वेद का अन्तिम भाग है, जिसका अर्थ है ज्ञान का अन्त या ज्ञान की पराकाष्ठा। ज्ञान की पराकाष्ठा वह अवस्था है, जिसमें एकत्व की अनुभूति होती है तथा अनेकत्व एकत्व में लीन हो जाता है। व्यावहारिक वेदान्त का अर्थ है–परमतत्व ब्रह्म के एकत्व की ऐसी अनुभूति जिसकी अभिव्यक्ति हमारे दैनिक जीवन की प्रत्येक गतिविधि में प्रतिक्षण हो। यदि एकत्व की अनुभूति केवल सैद्धान्तिक स्तर पर हो किन्तु वह हमारे दैनिक जीवन की गतिविधियों में अभिव्यक्त न हो, तो उसका कोई विशेष योगदान नहीं है। स्वामी विवेकानन्द व्यवहारिक वेदान्त के प्रमुख चिन्तक है। स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि किसी भी सिद्धान्त के तर्कसंगत होने पर भी उसका व्यवहारिक रूप में परिणत होना एक प्रमुख समस्या है। यदि उस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप में परिणत नहीं किया जा सकता तो बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त उसका और कोई मूल्य नहीं है। अतः यदि वेदान्त धर्म के स्थान पर आरूढ होना चाहता है, तो उसे पूर्ण रूप से व्यवहारिक होना चाहिए। हमें अपने जीवन की सभी अवस्थाओं में उसे कार्यरूप में परिणत करना आना चाहिए। आध्यात्मिक और व्यवहारिक जीवन के मध्य जो काल्पनिक भेद है, उसे भी समाप्त होना चाहिए, क्योकि वेदान्त एक अखण्ड ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश करता है–वेदान्त कहता है कि एक ही ब्रह्मतत्व सर्वत्र व्याप्त है।

व्यवहारिक जीवन में वेदान्त की सार्थकता एवं आवश्यकता के विषय में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–''हमें देखना है कि किस प्रकार यह वेदान्त हमारे दैनिक जीवन में, नागरिक जीवन में, ग्राम्य जीवन में, राष्ट्रीय जीवन में और प्रत्येक राष्ट्र के घरेलू जीवन में परिणत किया जा सकता है। यदि धर्म मनुष्य को जहां भी और जिस स्थिति में भी वह है, सहायता नहीं दे सकता, तो उसकी उपयोगिता अधिक नहीं है। तब वह कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए मात्र सिद्धान्त होकर रह जाता है। यदि धर्म मानवता का कल्याण करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मनुष्य की सहायता उसकी प्रत्येक अवस्था में कर सकने में समर्थ और सक्षम हो। मनुष्य चाहे गुलामी में हो या आजादी में, घोर पतन हो या अत्यन्त पवित्रता की अवस्था में धर्म को सर्वत्र मनुष्य की सहायता करने में समर्थ होना चाहिए। केवल तभी वेदान्त के सिद्धान्त अथवा धर्म के आदेश सार्थक हो सकेंगे।''

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार वेदान्त की अनुभूति

केवल वन, पहाडी अथवा गुफाओं में ही नहीं हो सकती अपितु प्राचीन काल में जिन राजर्षियों ने इन सत्यों का साक्षात्कार किया, वे महान कर्मयोगी थे। विशेष रूप से कर्मठ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें सैन्य संचालन करना पडता था। वे सिंहासन पर बैठकर आम प्रजा की समस्याओं का समाधान करते थे। जब वे जीवन की इन कठिन व्यस्तताओं के मध्य इस सर्वोच्च आदर्श का अनुभव कर सकते हैं तो सामान्य मनुष्य द्वारा इनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना अत्यन्त लज्जाजनक है। कुरूक्षेत्र भीषण युद्धस्थल में अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से इस उच्चतम आदर्श को सुनने और क्रियान्वित करने के लिए समय निकाल सकता है, तो हमें अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन और आरामदायक जीवन में इसकी अनुभूति के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–''गीता वेदान्त दर्शन का एक सर्वोत्तम भाष्यरूप है। कितने आश्चर्य की बात है कि इस उपदेश का केन्द्र है संग्रामस्थल! यहीं श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस दर्शन का उपदेश दिया है गीता के प्रत्येक पृष्ठ पर जो मत उज्जवल रूप से प्रकाशित है, वह है तीव्र कर्मण्यता, किन्तु उसके मध्य अनन्त शान्तभाव। इसी तत्व को कर्मरहस्य कहा गया है और इस अवस्था को पाना ही वेदान्त का लक्ष्य है। हम सामान्यतः अकर्म का अर्थ करते है निश्चेष्टता, पर यह आदर्श नहीं हो सकता। यदि यही आदर्श होता तो हमारे चारों और की दिवारें भी परमज्ञानी होती, वे भी तो निश्चेष्ट हैं मिट्टी के ढेले और पेडों के तने भी जगत के माहन तपस्वी गिने जाते, क्योंकि वे भी तो निश्चेष्ट है। वेदान्त का आदर्श जो यथार्थ कर्म है, वह अनन्त शान्ति के साथ संयुक्त हैं। किसी भी प्रकार की परिस्थिति में वह स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती–चित्त का वह साम्यभाव कभी भंग नहीं होता।'' स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित व्यवहारिक वेदान्त के मुख्य उपदेश इस प्रकार हैं –

आत्मा की महिमा में विश्वास– स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त की प्रमुख शिक्षा है–अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास करना। आत्मा सचिदानन्द स्वरूप है। आत्मा अजर–अमर, अविनाशी, शाश्वत तत्व है। आत्मा का न कभी जन्म होता है और न कभी नाश। आत्मा के सम्बन्ध में जन्म मृत्यु की बात करना कल्पनामात्र है। व्यवहारिक वेदान्त सर्वप्रथम मनुष्य को अपनी आत्मा पर विश्वास करने के लिए कहता है। प्राचीन धर्म कहता है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है, किन्तु वेदान्त कहता है जो अपनी आत्मा में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक हैं। अपनी आत्मा के दिव्य स्वरूप में विश्वास नहीं करना ही वेदान्त के अनुसार नास्तिकता है। वेदान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा के दिव्य स्वरूप की अनुभूति कर सकता है। वेदान्त जाति, लिंग, वर्ण, धर्म आदि किसी भेद को स्वीकार नहीं करता। ये सभी भेद बाह्य हैं। आत्मिक दिव्यता की दृष्टि से सभी मनुष्यों में एक ही ब्रह्म तत्व का प्रकाश विद्यमान है। यह आत्मविश्वास ही मानव जाति का सर्वाधिक सहायता कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार इस आत्मविश्वास की अनुभूति एवं प्रचार प्रसार में ही विश्व की समस्त समस्याओं का समाधान है। **आत्मविश्वास के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते है–''यह आत्मा केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है। क्योंकि वेदान्त एकत्वाद की शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है–सबके प्रति विश्वास, क्योंकि हम सब एक है। अपने प्रति विश्वास का अर्थ है–समस्त प्राणियों से प्रेम, समस्त पशु–पक्षियों से प्रेम एवं समस्त जगत से प्रेम। यही महान आत्मविश्वास जगत को अधिक अच्छा बना सकेगा। इस आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी आत्मा की दिव्यता का श्रवण कर हम इसका सतत ध्यान करें। ज्योतिर्मय आत्मा की तेजस्विता, सर्वशक्तिामता और दिव्यता सतत विचार हममें अदभुत शक्ति का संचार करता है। व्यवहारिक स्तर पर जो वेदान्त का अभ्यास करना चाहते है, उनके लिए यही प्रथम पाठ हैं। मनुष्य को स्वयं से अथवा किसी दूसरे से यह नहीं कहना चाहिए कि वह दुर्बल हैं। हमारी आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान हैं। यह कभी नहीं सोचना कि आत्मा के लिए कुछ असम्भव है, यह सोचना ही भयानक नास्तिकता है। यदि पाप नामक कोई वस्तु है तो वह यह कहना कि मैं दुर्बल हूं अथवा अन्य कोई दुर्बल है। यदि मनुष्य इस आत्मविश्वास को जाग्रत करने का अभ्यास करता है, तो उसकी समस्त दुर्बलताएं तत्काल समाप्त हो जाती हैं।''**

मनुष्य दिव्य स्वरूप है– स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त के मतानुसार मनुष्य दिव्य स्वरूप है। मनुष्य पूर्ण और शुद्ध स्वरूप है। जिसे हम पाप समझते हैं, वह हमारा निम्नतम प्रकाश है। मनुष्य पापी नहीं अपितु दिव्यस्वरूप है। मनुष्य को पापी कहना उसकी आत्मिक महानता एवं अनन्तता की उपेक्षा है। इस शिक्षा का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। वेदान्त मनुष्य में किसी प्रकार की दीनता, हीनता और निम्नता नहीं स्वीकार करता। स्वामी विवेकानन्द वेदान्त के इस संदेश के विषय में कहते हैं–**''तुम प्रभु की सन्तान, अमर आनन्द के हिस्सेदार, पवित्र और पूर्ण हो। हे पृथ्वी निवासी ईश्वर स्वरूप भाईयों! तुम भला पापी मनुष्य को पापी कहना ही पाप है। यह कथन मानव स्वरूप पर एक लाछंन है। हे सिंहो ! आओ और अपने भेड बकरी होने का भ्रम दूर कर दो। तुम अमर आत्मा, शुद्ध–बुद्ध, मुक्त स्वभाव, शाश्वत और मंगलमय हो। तुम जड नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो जड तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।''**

वेदान्त अज्ञानता और दुर्बलता को समस्त बुराइयों की जड मानता है। उसे दूर करने के लिए वह कोई निशेधात्मक शिक्षा नहीं देता, अपितु हमें सकारात्मक दृष्टिकोण देता है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार केवल दुर्बलता का स्मरण कराने से अधिक उपकार नहीं होगा। उसका उपचार करना होगा। यह कहते रहना कि ''मैं रोगग्रस्त हुँ –रोग की औषधि या उपचार नहीं है। मनुष्य को सदैव उसकी दुर्बलता की याद कराते रहना उसकी दुर्बलता का प्रतिकार नहीं, अपितु उसे, अपने बल का स्मरण करा देना ही इसके प्रतिकार का उपाय है। मनुष्य को उसके दिव्य स्वरूप का बोध कराते हुए सतत इसके चिन्तन के लिए वेदान्त प्रेरित करता है कि मैं अजर, अमर, अविनाशी, आनन्दमय, सर्वज्ञ, सर्व–शक्तिमान, नित्य ज्योतिर्मय आत्मा हुँ। स्वामी विवेकानन्द मनुष्य में निहित इसी दिव्यता का आह्वान करते हुए कहते हैं–''हे महान! उठो! यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। यह मोह तुम्हारे लिए उचित नहीं। तुम अपने को दुर्बल और दुःखी समझते हो ? हे सर्वशक्तिमान! उठो, जागो, अपना स्वरूप प्रकाशित करो। तुम स्वयं को पापी समझते हो, यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है।''

आत्मा के दिव्य स्वरूप की अनुभूति के अभ्यास में यदि हम असफल हों तो हमें निराश नहीं होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द तो असफलताओं को 'जीवन का सौन्दर्य' मानते हैं। उन असफलताओं के बिना जीवन भला क्या होता? जीवन में यदि संघर्ष न रहे तो जीवित रहना व्यर्थ है। इस संघर्ष में ही जीवन की सार्थकता हैं। स्वामीजी कहते हैं–''संघर्षो और त्रुटियों की परवाह मत करो। मैने किसी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना किन्तु वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नहीं। इसलिए इन असफलताओं पर ध्यान मत दो, ये छोटी–छोटी फिसलने हैं। आदर्श को सामने रखकर हजार बार आगे बढने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार असफल होते हो, तो एक बार फिर प्रयत्न करो।'' वेदान्त का यह संदेश प्रत्येक मनुष्य को सतत पुरूषार्थ करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

जगत ब्रह्मस्वरूप है– स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार विश्व के अधिकांश धर्म यह स्वीकार करते हैं कि यह जगत नश्वर, दुःखद और परिवर्तनशील है। इस जगत से परे एक अनन्त सत्ता विद्यमान है, जहां दुःख का लेशमात्र भी नहीं है। उसे कोई गॉड, कोई अल्लाह, कोई जिहोवा, कोई जोव, कहता है । वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते है। जगत को दुःखमय मानने के कारण अधिकतर धर्म इसके त्याग का उपदेश देते है। निश्चय ही यह एक महान संदेश है कि सत्य को जानने के लिए असत्य का त्याग करना होगा, अच्छी वस्तु पाने के लिए बुरी वस्तु का त्याग करना होगा तथा जीवन प्राप्त करने के लिए मृत्यु का त्याग करना होगा। किन्तु यदि इस मतवाद का यही अर्थ है कि हमें जीवन का त्याग करना होगा, तब फिर हमारे पास क्या शेष रहा? वेदान्त इस समस्या का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करता है। वेदान्त शिक्षा देता है कि जगत को ब्रह्मस्वरूप देखो। वेदान्त वास्तव में जगत को एकदम उडा नहीं देना चाहता। यह सत्य है कि वेदान्त में जिस प्रकार के चूडान्त वैराग्य का उपदेश है, उस प्रकार का और कहीं नहीं है। किन्तु इस वैराग्य अर्थ का जीवन और जगत का त्याग नहीं है। वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है जगत का ब्रह्मस्वरूप देखना।

जगत को हम जिस भाव से देखते है। वह जैसा हमारे समक्ष प्रतीत होता है। उसे हम जैसे जानते है। इन सबका त्याग करते हुए जगत को उसके वास्तविक स्वरूप में ग्रहण करना होगा। उसे ब्रह्मस्वरूप देखना होगा। वास्तव में जगत ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी कारण सबसे प्राचीन उपनिषद् ईशोपनिशद में कहा गया है ''जगत में जो कुछ है, वह सब ईश्वर से अच्छादित हैं।'' समस्त जगत को ईश्वर के द्वारा अच्छादित कर लेना होगा। यह किसी मिथ्या आशवादिता से नहीं, जगत के अशुभ और दुःख कष्ट की उपेक्षा करके नहीं अपितु वास्तविक रूप से प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का दर्शन करना होगा। इसी प्रकार इस संसार का त्याग करना होगा। जब संसार का त्याग कर दिया तो शेष क्या रहा ? ईश्वर। इस जगत को ब्रह्मस्वरूप देखने का अर्थ इसकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक परिस्थिति में ब्रह्म की अनुभूति करना। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं–**''वेदान्त यही कहता है तुमने जगत की जिस रूप में कल्पना कर रखी है, उसे छोडो, क्योंकि तुम्हारी कल्पना अत्यन्त आंशिक अनुभूति पर क्षीण तर्क, युक्ति और तुम्हारी दुर्बलता पर आधारित है। उसे त्याग दो, हम इतने दिन जगत को जैसे सोचते थे, इतने दिन जिसमें अत्यन्त आसक्त थे, वह तो हमारे द्वारा रचित एक मिथ्या जगत है, उसको छोडो। आँखे खोलकर देखो, हम अब तक जिस रूप में जगत को देख रहे थे, वास्तव में उसका अस्तित्व वैसा कभी नहीं था, वह स्वप्न था, माया थी। जो था वह था एकमात्र प्रभु। वे ही सन्तान के भीतर, वे ही पत्नी में, वे ही पति में, वे ही अच्छे में, वे ही बुरे में, वे ही पाप में, वे ही पापी में, वे ही जीवन में और वे ही मृत्यु में वर्तमान है।''** इसी प्रकार मनुष्य सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करके ही जीवन दुःखों को दूर कर सकता है।

मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण वासनाएं है। इन वासनाओं का त्याग आवश्यक है, किन्तु वासनाओं के त्याग का वास्तविक अर्थ क्या है? सामान्यतः वासनाओं के त्याग का अर्थ माना जाता है– वासनाओं का अन्त, किन्तु यह यथार्थ समाधान नहीं है। मनुष्य को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएं जैसे भोजन, आवास, धन सम्पति आदि रखनी चाहिए। किन्तु इन सभी वस्तुओं में स्वामित्व का भाव नहीं रखना चाहिए। ईशोपनिषद् के प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट किया गया है कि जगत के समस्त पदार्थ ईश्वर द्वारा आच्छादित है, अतः इनको

त्यागपूर्वक भोग करो। वेदान्त जगत के समस्त पदार्थो का त्यागपूर्वक भोग करने की शिक्षा देता है और यहां त्याग का अर्थ है–सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना। सब जगह ईश्वर बुद्धि कर लेने पर ही हम वास्तविक अर्थो में कार्य करने में समर्थ होंगे। इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्म दर्शन करते हुए मनुष्य पृथ्वी पर दीर्घ काल तक सेवापूर्ण, आनन्दपूर्ण और क्रियाशील जीवन व्यतीत करने की इच्छा करे। स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार–**''जो व्यक्ति सत्य को न जानकर अबोध की भांति संसार के भोगविलास में निमग्न हो जाता है, समझ लो उसे ठीक मार्ग नहीं मिला, उसका पैर फिसल गया है। दूसरी ओर जो व्यक्ति संसार को कोसता हुआ वन में चला जाता है, अपने शरीर को कष्ट देता रहता है, धीरे–धीरे सुखाकर अपने को मार डालता है, अपने हृदय को शुष्क मरूभूमि बना डालता है, अपने सभी भावों को कुचल डालता है और कठोर, बीभत्स और रूखा हो जाता है, समझ लो वह भी मार्ग भूल गया है। ये दोनों दो छोर की बातें हैं, दोनों ही भ्रम में है–एक इस ओर और दूसरा उस ओर। दोनों ही पथभ्रष्ट हैं–दोनों ही लक्ष्यभ्रष्ट हैं।''** वेदान्त सर्वत्र ब्रह्ममय बुद्धि के द्वारा कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। ब्रह्म सभी वस्तुओं में व्याप्त है, उसे प्राप्त करने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं हैं। वह हमारे प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में एवं प्रत्येक विचार में पहले से ही विद्यमान है। इस प्रकार ब्रह्ममय बुद्धि से कार्य करने पर कर्मफल हमें बन्धनग्रस्त नहीं करता। समस्त दुःखों का कारण वासनाएं हैं। किन्तु जब यह वासनाएं ब्रह्ममय बुद्धि के द्वारा पवित्र भाव धारण कर लेती है, तो वे हमारा अनिष्ट नहीं करती।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति– बहुत्व में एकत्व की अनुभूति स्वामी विवेकानन्द के व्यावहारिक वेदान्त की महत्वपूर्ण शिक्षा है। वेदान्त का मूल सिद्धान्त एकत्व अथवा अखण्ड भाव है। द्वित्व कहीं नहीं है। एकमात्र जीवन है, एकमात्र जगत है, एकमात्र सत् है। सब कुछ वही एकमात्र सत् है। भेद या अनेकता केवल परिणाम का है प्रकार का नहीं। वेदान्त प्राणियों में भेद को अस्वीकार करता है। समस्त प्राणीजगत उसी अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य का जीवन अनन्त है, तो पशु जीवन भी उसी प्रकार है। भेद केवल परिमाणगत है, प्रकारगत नहीं। अमीबा और मनुष्य मे केवल परिमाण का भेद है, प्रकारगत नहीं। सर्वोच्च जीवन दृष्टि से देखने पर समस्त भेद समाप्त हो जाते है। उच्चतम सता के दृष्टिकोण से निम्नतम पशु और उच्चतम मनुष्य सभी समान हैं। यदि एक ही ब्रह्मतत्व में विश्वास करें तो हमें पशुओं से लेकर उच्चतम प्राणी तक समत्व स्वीकार करता होगा। किसी भी प्राणी का अनिष्ट न किया जायें, क्योंकि पशु भी उस परमपिता परमेश्वर की सन्तान होने के कारण हमारे भाई हैं। यदि हम मनुष्यों की भॉति समस्त प्राणियों के प्रति अपने भ्रातृत्वभाव विकसित करने में समर्थ हो तभी हमारे भ्रातृत्वभाव की सार्थकता है। केवल मनुष्यों के प्रति भ्रातृत्वभाव किन्तु पशुओं के प्रति घृणा हमारे संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है। अतः हमें समस्त प्राणियों की प्रति बन्धुता का भाव विकसित करना आवश्यक है।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति के लिए आवश्यक है कि हम दूसरों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखें। दुर्बलता और सबलता में भेद केवल परिमाणगत है। प्रकाश और अन्धकार में भेद केवल परिमाणगत है, पाप और पुण्य के मध्य भेद केवल परिमाणगत है। जीवन और मृत्यु में भेद केवल परिणामगत है। इस प्रकार एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद केवल परिमाणगत ही है, प्रकारगत नहीं, क्योंकि वास्तव में सभी वस्तुएँ एक ही अखण्ड सत्ता ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं। एक ही परमसत्ता है, जो अपने को विचार, जीवन, देह के रूप में अभिव्यक्त करती है और उनमें अन्तर केवल परिमाण का है। अतः जो किसी कारणवश हमारे समान उन्नति नहीं कर पायें, उनके प्रति घृणा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। यदि हम किसी की सहायता करने में समर्थ हों तो अवश्य करनी चाहिए, अन्यथा शान्तिपूर्वक रहना चाहिए। दूसरों की निन्दा और आलोचना में हम अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करते है। क्योकि अन्त में देखते हैं कि सभी लोग उसी एक ही आदर्श की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अतः विवेक या सदसत् विचार की कसौटी है– पवित्रता तथा एकत्व का ज्ञान जिससे एकत्व की प्राप्ति हो, वही सत्य है। प्रेम सत्य है, घृणा असत्य है, क्योकि वह अनेकत्व को जन्म देती है। घृणा ही मनुष्य को मनुष्य से पृथक करती है। यह एक विघटक शक्ति है। प्रेम एकत्व सत्यापित करता है।

बहुत्व में एकत्व की अनुभूति मे प्रेम की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते है– **''प्रेम जोडता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं– मां सन्तान के साथ परिवार नगर के साथ सम्पूर्ण जगत पशु पक्षियों के साथ एकीभूत हो जाता है, क्योंकि प्रेम ही सत् है, प्रेम ही भगवान है और यह सब कुछ उसी एक प्रेम का ही न्यूनाधिक प्रस्फुटन है। भेद केवल मात्रा के तारत्म्य मे है, किन्तु वास्तव में सभी उसी एक प्रेम की अभिव्यक्ति हैं। अतः हमें देखना चाहिए कि हमारे कर्म अनेकत्व विधायक है अथवा एकत्व सम्पादक। यदि एकत्व सम्पादक हैं तो उन्हें ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार विचारों के सम्बन्ध में भी सोचना चाहिए, देखना चाहिए कि उनमें विघटन या अनेतत्व उत्पन्न होता है या एकतत्व और वे एक आत्मा को दूसरी आत्मा से जोड़कर महान शक्ति उत्पन्न करते हैं या नहीं। यदि करते हैं तो ऐसे विचारों को अंगीकार करना चाहिए**

अन्यथा उन्हें अपराध मानकर त्याग देना चाहिए।''

बन्धन और मोक्ष– अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्ति कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, वह सदैव प्राप्त ही है। केवल हम अपने वास्तविक मुक्त स्वरूप को भूल जाते हैं और उसे अस्वीकार करते हैं। पूर्णता हमें प्राप्त करनी नहीं हैं, वह तो सदैव ही हमारे भीतर विद्यमान है। यह अमरत्व, यह आनन्द हमें आर्जित करना नहीं है, वह तो सदा से ही हमें प्राप्त है। **स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार यदि तुम साहस के साथ यह कह सको कि ''मैं मुक्त हूँ इसी क्षण तुम मुक्त हो। यदि तुम कहो ''मै बद्ध हूँ '' तो तुम बद्ध ही रहोगे। वेदान्त के मतानुसार इस समस्त प्रतीयमान अशुभ का कारण भी हमारे भीतर ही है। मनुष्य का अज्ञान ही समस्त अशुभ का कारण है।** स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– '' हम रेशम के कीडे के समान हैं। अपने ही शरीर से अपने आप जाल बनाकर उसी में आबद्ध हो गये हैं, किन्तु यह बद्धभाव चिरकाल के लिए नहीं है। हम लोग उससे तितली के समान बाहर निकलकर मुक्त हो जायेंगे। हम लोग अपने चारों ओर इस कर्मजाल को लगा लगा देते है और अज्ञानवश सोचने लगते हैं कि हम बद्ध हैं और सहायता के लिये रोते चिल्लाते हैं। किन्तु बाहर से कोई सहायता नहीं मिलती, सहायता मिलती है भीतर से दुनिया के सारे देवताओं के पास तुम रो सकते हो, मैं भी बहुत वर्ष इसी तरह रोता रहा, अन्त में देखा कि मुझे सहायता मिल रही है, किन्तु यह सहायता भीतर से मिली। भ्रान्तिवश इतने दिन तक जो अनेक प्रकार के वाद करता रहा, उस भ्रान्ति को मुझे दूर करना पडा। यही एकमात्र उपाय है। मैने स्वयं अपने को जिस जाल में फंसा रखा है, वह मुझे ही काटता पडेगा और उसे काटने की शक्ति भी मुझमें ही है। हम जो भी अशुभ या अनुचित करते हैं, उसका कारण हमारी दुर्बलता है और हम दुर्बल है अज्ञानी होने के कारण। समस्त दुर्बलताओं और अशुभ का कारण अज्ञान है। जब तक ज्ञान सूर्य उदय नहीं होगा हम इन दुर्बलताओं पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– **''ज्ञानाग्नि प्रज्जवलित करो एक क्षण में सब अशुभ चला जाएगा। अपना चरित्र का निर्माण करो तथा अपने यथार्थ स्वरूप को उसी ज्योतिर्मय, उज्जवल, नित्य शुद्ध ''मैं'' को प्रकट करो एवं प्रत्येक व्यक्ति में उसी को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जाएं कि अत्यन्त दुष्ट मनुष्य को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात न करें बल्कि उसके हृदय में रहने वाले भगवान को देख सकें और उसकी निन्दा न कर यह कह सकें– हे स्वप्रकाश, ज्योतिर्मय उठो! हे सदाशुद्ध स्वरूप उठो! हे अज अविनाशी, सर्वशक्तिमान, उठो! अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करो। तुम जिन अशुद्ध भावों में आबद्ध हो, वे तुम्हे शोभा नहीं देते। अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठत्म प्रार्थना का उपदेश देता है। अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करो। तुम जिन क्षुद्रभावों में आबद्ध हो, वे तुम्हे शोभा नहीं देते। अद्वैतवाद इसी श्रेष्ठतम प्रार्थना का उपदेश देता है। अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण उस अन्तःस्थ ईश्वर का स्मरण उसके अनन्त सर्वशक्तिमान, सदाशिव, निष्काम स्वरूप सदा चिन्तन करों, यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र ''मैं'' उसमें नहीं रहता, क्षुद्र बन्धन उसे नहीं बाँध सकते।''** इस प्रकार अपने शुद्ध, नित्य, ओज स्वरूप, सर्वशक्तिमान एवं सर्वज्ञ स्वरूप आत्मतत्व का चिन्तन, मनन और स्मरण ही हमें समस्त अज्ञानताओं और दुर्बलताओं से मुक्त कर सकता है। हमें स्वयं के भीतर तथा दुसरों में विद्यमान इस ज्योतिस्वरूप आत्मतत्व को प्रकाशित करने के लिए सतत् प्रयासरत रहना आवश्यक है। आत्मतत्व के वास्तविक स्वरूप के प्रकाशित होने पर हमारी समस्त दुर्बलताओं और बन्धनों का अन्त हो जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

बहुविकल्पात्मक प्रश्न–

1. याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार योग के प्रथम वक्ता कौन हैं?
   (अ) महर्षि व्यास (ब) महर्षि पतंजलि
   (स) विज्ञानभिक्षु (द) हिरण्यगर्भ
2. योगसूत्र किसकी रचना है ?
   (अ) ईश्वर कृश्ण (ब) विज्ञानभिक्षु
   (स) महर्षि पतंजलि (द) महर्षि व्यास
3. निम्न में कौन सा यम नहीं है ?
   (अ) सत्य (ब) अहिंसा
   (स) शौच (द) ब्रह्मचर्य
4. निम्न से कौन सा योग का अन्तरंग साधन नहीं है ?
   (अ) धारणा (ब) ध्यान
   (स) समाधि (द) तप
5. निम्नलिखित में से कौन सा ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में नहीं है?
   (अ) उपनिशषद (ब) श्रीमद्भगवद्गीता
   (स) महाभारत (द) ब्रह्मसूत्र
6. अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया का आश्रय कौन है ?
   (अ) जीव (ब) मन
   (स) बुद्धि (द) ब्रह्म
7. आदिगुरू शंकराचार्य के मतानुसार एकमात्र सत् है ?
   (अ) माया (ब) जगत्
   (स) ब्रह्म (द) ईश्वर

8. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख आदर्श कौन से हैं ?
   (अ) त्याग और सेवा (ब) प्रेम और करूणा
   (स) सत्य और अंहिसा (द) शौच और सन्तोष
9. 'अपनी मुक्ति और जगत का कल्याण' यह सन्देश किस संस्था से सम्बन्धित है ?
   (अ) ब्रह्म समाज (ब) रामकृष्ण मिशन
   (स) आर्य समाज (द) चिन्मयानन्द मिशन
10. स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार जगत की समस्त समस्याओं का अन्त किस प्रकार सम्भव है ?
   (अ) संन्यास के द्वारा (ब) आत्मविश्वास के द्वारा
   (स) धर्म के द्वारा (द) वैराग्य के द्वारा

अतिलघुतरात्मक प्रश्न–

1. योग शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट कीजिए ?
2. योग किसे कहते हैं ?
3. चित्त से आप क्या समझते हैं ?
4. यम कौन से हैं ? स्पष्ट कीजिए।
5. स्वाध्याय की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
6. निर्गुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
7. ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को स्पष्ट कीजिए ?
8. माया के दो प्रमुख कार्य कौन से हैं ?
9. माया का निराकरण किसके द्वारा होता है ?
10. व्यवहारिक वेदान्त के प्रवर्तक कौन है ?
11. नास्तिक किसे कहते हैं ?
12. वेदान्त की मुख्य शिक्षा क्या है ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. अष्टांग योग में यम की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
2. अष्टांग योग में नियम के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए ?
3. योग की परिभाषा को स्पष्ट कीजिए ?
4. योग के अन्तरंग साधनों की व्याख्या कीजिए ?
5. वेदान्त की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
6. अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
7. अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
8. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आत्मा के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
9. स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या कीजिए ?
10. 'जगत ब्रह्मस्वरूप है' इस कथन की व्याख्या कीजिए ?

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. अष्टांग योग के विभिन्न सोपानों की व्याख्या कीजिए ?
2. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्य कीजिए ?
3. अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?
4. स्वामी विवेकानन्द के व्यवहारिक वेदान्त की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ?

बहुविकल्पात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. (द) 2. (स) 3. (स) 4. (द) 5. (स)
6. (द) 7. (स) 8. (अ) 9. (ब) 10. (ब)

सन्दर्भ पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – डॉ हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
2. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा–राममूर्ति पाठक
3. भारतीय दर्शन – चन्द्रधर शर्मा
4. व्यावहारिक जीवन मे वेदान्त –स्वामी विवेकानन्द
5. ज्ञानयोग – स्वामी विवेकानन्द
6. गीता रहस्य – बालगंगाधर तिलक
7. धर्म दर्शन – डॉ हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा
8. गीता तत्वचिंत्तन – स्वामी आत्मानन्द